जल बीच मीन पियासी

प्रफुल्ल कोलख्यान

'ज्ञानी आर्य, जिसने अपना स्वत्व ही त्याग दिया, वह क्या पा सकेगी? आचार्य दासी को क्षमा करें। दासी हीन होकर भी आत्मनिर्भर रहेगी। स्वत्वहीन होकर वह जीवित नहीं रहेगी।'[1]

-यशपाल

समाज और परिवार में स्त्रियों की दशा ठीक नहीं है। सबलीकरण की बातें अपनी जगह लेकिन कोई संवेदनशील मन उन बातों के अंबार के नीचे दबे स्त्री जीवन के सिसकते यथार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता है। मुश्किल यह कि पुरुष-वर्चस्व के प्रभाव के कारण जाने-अनजाने बहुत सारी बातें एवं उन बातों से निकलनेवाली अंतर्ध्वनियाँ कुछ ऐसी हो जाती हैं कि स्त्री जीवन के दुखद सच और उसके कारण ओट में ही छिपे रह जाते हैं। अभी पिछले कुछ समय से समाचार माध्यमों में बलात्कार और यौन शोषण पर टिप्पणियों की संख्या में कुछ अधिक ही बढ़त देखी जा रही है। यह भी सच है कि इस तरह की घटनाओं में होनेवाली वृद्धि और उसमें चरम क्रूरता की पैठ के चलते और नागरिक-समाज में मीडिया की प्रभावी भूमिका और भरोसा के लिहाज से टिप्पणियों की संख्या में बढ़त भी स्वाभाविक है। लेकिन, पूरी सदाशयता के बावजूद इसकी प्रस्तुति और विश्लेषण में कई कारणों से चूक हो जाती है। इस चूक के एक प्रमुख कारण के रूप में पुरुष वर्चस्ववाले समाज में निर्मित मानवीय अंतर्मन या अवचेतन को रेखांकित किया जा सकता है। इसके लिए सिर्फ मीडिया कर्मी या मीडिया को दोष देकर छुट्टी पा लेना ठीक नहीं होगा। समस्या की जड़ तक पहुँचना होगा। एक उदाहरण से शायद बात कुछ अधिक स्पष्ट हो सकती है। इन दिनों समाचार चैनलों में प्रेम-संबंधों में हिंसा और क्रूरता की बढ़ती हुई पैठ पर चिंता व्यक्त की जा रही है। प्रेम-संबंधों में हिंसा और क्रूरता की बढ़ती हुई पैठ को साबित करने के लिए

प्रेमियों के द्वारा प्रेमिकाओं की हत्या की खबरें भी दी जा रही हैं। इन खबरों को देखने से, ऊपरी तौर पर प्रेम-संबंधों में हिंसा के घुसपैठ की बात ठीक प्रतीत होती है। ध्यान देने की बात यह है कि उस अर्थ और अनुपात में प्रेमिका के द्वारा अपने प्रेमी की हत्या की घटना न के बराबर हैं। इसलिए यह मानना कि प्रेम संबंधों में हिंसा और क्रूरता की पैठ हो गई है, अपनी अर्थ-व्यंजकता में पूरी तरह से ठीक नहीं है। इसे इस रतह से देखा जाना चाहिए कि पुरुष-मनोभाव में असहिष्णुता, हिंसा और क्रूरता की त्रासद पैठ बढ़ रही है। पुरुष-मनोभाव में असहिष्णुता, हिंसा और क्रूरता की त्रासद पैठ पुरुष-वर्चस्ववाले पूरे समाज में असहिष्णुता, हिंसा और क्रूरता की पैठ को परिलक्षित कर रही है। इसी असहिष्णुता, हिंसा और क्रूरता की त्रासद अभिव्यक्ति प्रेम के पुरुष मनोभाव में हो रही है। वस्तुतः असहिष्णुता, हिंसा और क्रूरता की पैठ की जड़ सामाजिक और नागरिक जीवन की आंतरिक संरचना में हैं। इन्हें सामाजिक और नागरिक जीवन की आंतरिक संरचना में ही खोजा जाना चाहिए। एक ओर समाज में स्त्री-देह का इतना खुला, कुछ मामलों में नग्न भी, प्रदर्शन ओर दूसरी ओर दैहिक नैतिकता में उसी पुराने नजरिये को बरकरार रखने का आग्रह हमारे चरित्र को अतंर्विरोधी बनाता है। इस अंतर्विरोध के कारण तन और मन का सामंजस्य टूट जाता है। यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' की नायिका दिव्या अपने 'स्वत्व' को 'यौन-शुचिता' से नहीं 'आत्मनिर्भरता' से जोड़ने की आकांक्षा रखती है। यहाँ आत्मनिर्भरता का आशय आर्थिक आत्मनिर्भरता से सीमित न होकर जीवन के दूसरे आयामों तक भी फैलता है, खासकर मानसिक आत्मनिर्भरता के बहुविध आयामों तक। इसलिए आज स्त्री-विमर्श के पुरुष सहभागियों के मनो-विन्यास में आर्थिक, शारीरिक और मानसिक आत्मनिर्भरता के बहुविध आयामों की पर्याप्त और उपयुक्त समझ के लिए पर्याप्त मनो-स्थान बनाने के साथ ही नैतिकता की पुरानी सरणियों की जगह नई सरणियों के विनिर्माण की छटपटाहट को पढ़ने का सांस्कृतिक धैर्य और कौशल का होना भी जरूरी है।

पूरी दुनिया में स्त्री-विमर्श नये ओज से जारी है। इस ओज में सांस्कृतिक धैर्य और कौशल के लिए अभी भी बहुत जगह खाली है। स्त्री-विमर्श बहुआयमी है। दुनिया के विभिन्न इलाकों, समुदायों और वर्गों में इसके आशय एक ही नहीं हैं। यद्यपि इनकी अंतर्वस्तुओं में बहुत दूर तक समान्यताएँ हैं और इनकी अपनी-अपनी इलाकाई, सामुदायिक और वर्गीय विशिष्टताएँ भी हैं। इन विशिष्टताओं को नजरअंदाज करना स्त्री-विमर्श के लिए हितकर नहीं है। स्त्री-विमर्श की इन विशिष्टताओं को सामाजिक विशिष्टताओं के संदर्भ से जोड़कर समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए नगा समाज और हिंदी समाज में महिलाओं की सामाजिक हैसियत और स्थिति का संदर्भ लिया जा सकता है।

यू ए शिमरे के शब्दों में, 'भारत के अधिक सभ्य इलाकों की महिलाएँ, नगा पहाड़ियों की महिलाओं की ऊँची सामाजिक हैसियत, स्वतंत्र और सुखी जीवन से ईष्या कर सकती हैं; कोई वहाँ की महिलाओं की सामाजिक स्थिति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता के आधार पर वहाँ के लोगों के सांस्कृतिक स्तर को समझना चाहे तो उन्हें 'अ-सभ्य' कहने के पहले उसे दो बार सोचना होगा।'[2] और हिंदी समाज के बारे में नागार्जुन की एक टिप्पणी का उल्लेख किया जा सकता है, 'हमारा हिंदी-भाषी क्षेत्र सामाजिक सहजीवन की दृष्टि से पड़ोसी प्रदेशों की अपेक्षा अधिक पिछड़ा हुआ है। हमारी यह लालसा तो रहती है कि फिल्मों में नए-नए चेहरे दिखाई पड़ें, किंतु अपनी पुत्री या पुत्रबधू को हम 'मार्यादा' की तिहरी परिधियों के अंदर छेके रहेंगे !'[3] यह सच है कि 'जितना बड़ा होता है घर/ उतना ही छोटा होता है स्त्री का कोना' ।[4] 'छोटे कोने' से बाहर निकलने के क्रम में स्त्री-विमर्श में पहला प्रतिरोध इस 'मार्यादा' के प्रति है। तो क्या 'मार्यादा' फालतू शब्द है? स्त्रीवाद के लिए यह फालतू शब्द है। लेकिन स्त्री-विमर्श के लिए फालतू शब्द नहीं है! बिल्कुल नहीं। यह सच है कि 'मार्यादा' की पुरानी अंतर्वस्तु में शोषण के विषाणु पलते हैं। इसलिए स्त्री-विमर्श में 'मार्यादा' को विदाई देने की नहीं बल्कि 'मार्यादा' की नई अंतर्वस्तु की तलाश की फिक्र है। इस तलाश के प्रारंभ में ही एक कठिन सवाल का सामना करना पड़ता है। सवाल यह कि स्त्री-विमर्श का सत्ता-विमर्श और समाज-विमर्श से कैसा रिश्ता है। इन रिश्तों के रेशों के रेशों को अन्वेषित किये बिना बात का सही दिशा में आगे बढ़ना मुश्किल है। देखना जरूरी होगा कि स्त्री-विमर्श सत्ता-विमर्श की ही एक और अभिव्यक्ति है या इसमें सामाजिक-विमर्श के भी आयाम हैं। यह भी कि क्या स्त्री-विमर्श मूल रूप से समाज-विमर्श है और इसमें सत्ता-विमर्श के भी कुछ तत्त्व हैं? कुछ लोग इसे बिना किसी दुविधा के सिर्फ सत्ता-विमर्श का ही एक अभिनव प्रारूप मानते हैं तो कुछ लोग उतनी ही दुविधाहीन ढंग से इसे सिर्फ सामाजिक-विमर्श का अंग मानते हैं। वस्तुत: सत्ता-विमर्श सत्ता की संरचना में परिवर्तन का लक्ष्य रखता है और समाज-विमर्श समाज की संरचना में परिवर्तन का लक्ष्य रखता है। सत्ता की संरचना में परिवर्तन के लिए समाज का सहयोग अपेक्षित होता है और समाज की संरचना में परिवर्तन के लिए भी सत्ता की शक्ति से मदद ली जाती है। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम में दोनों ही तत्त्व थे। समाज सुधार की कतिपय परियोजनाओं में मदद के लिए तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता से मदद लेने की कोशिश की जाती थी तो खुद ब्रिटिश सत्ता को बदलने के लिए समाज को संगठित भी किया जा रहा था। इस तरह व्यापक फलक पर देखें तो, अंतत: सत्ता-विमर्श समाज-विमर्श के निष्कर्ष को अपने में समाहित किये रहता है और

समाज-विमर्श में भी सत्ता-विमर्श की आकांक्षा निहित होती है। इसी लिए कब समाज-विमर्श सत्ता-विमर्श में बदल जाता है और कब सत्ता-विमर्श समाज-विमर्श का दामन थाम लेता है, यह बहुत आसानी से पता नहीं चलता है। पता न चले लेकिन, यह तो मानना ही होगा कि 'अंतत:' का 'प्रथमत:' घटित हो जाना दुर्घटना ही होती है। हमारा ऐतिहासिक अनुभव बताता है कि अपरिपक्क या कच्ची अवस्था में समाज-विमर्श का सत्ता विमर्श में ढल जाना घातक परिणाम देता है। आजादी के संघर्ष के समय बहुत सारे समाज-विमर्श परिस्थतियों के तात्कालिक दबाव में आकर असमय ही सत्ता-विमर्श में ढल गये, इसका दीर्घकालिक परिणाम यह हुआ कि समाज-विमर्श की वे परियोजनाएँ अधूरी ही पड़ी रह गईं। कहना न होगा कि सत्ता-विमर्श शक्ति का खेल है। सत्ता-विमर्श जितनी आसानी से समाज-विमर्श को अपने प्रयोजन के लिए साध लेता है उतनी ही आसानी से समाज-विमर्श अपने प्रयोजन में सत्ता-विमर्श का उपयोग नहीं कर पाता है। इसके बावजूद कुछ लोग मानते हैं कि स्त्री-विमर्श का प्राथमिक संबंध सत्ता-विमर्श से हो या समाज-विमर्श से, कोई अंतर नहीं पड़ता है। ये भी उतने ही दुविधाहीन होते हैं। भारतीय काव्यमनीषियों ने अभिधा, व्यंजना और लक्षणा जैसी शब्द शक्ति की व्यापक चर्चा की है। बहुत ही बारीकी से अभिधेयार्थ, व्यंग्यार्थ और लक्ष्यार्थ को विवेचित किया है। हम उनके ऋणी हैं। लेकिन क्षमा माँगते हुए कहना पड़ता है कि ये शब्द की शक्तियाँ हैं। हमारा अनुभव बताता है कि 'शब्द' की अपनी 'शक्ति' होती है तो 'शक्ति' के अपने 'शब्द' होते हैं! अपने 'अर्थ' होते हैं! 'शक्ति' के इन अंतर्निहित शब्दार्थों को 'सुविधार्थ' कहा जा सकता है। सुविधार्थी लोगों का एक गोल ऐसा भी है जो सामाजिक-विमर्श या सत्ता-विमर्श से बिल्कुल भिन्न स्तर पर इसे सिर्फ 'लैंगिक दुराग्रहों'[5] और 'प्रति-दुराग्रहों' के रूप में व्याख्यायित कर इसकी हँसी उड़ाने का दुस्साहस करता है। ऐसे लोग एक प्रकार की सिद्धांतिकी रचते हुए स्त्री की देह पर वास्तविक अधिकार का सवाल उठाते हैं। यह एक मासूम सवाल है। इसकी मासूमियत हमें विचलित कर देती है और हम छूटते ही कह उठते हैं कि स्त्री की देह पर स्त्री का ही अधिकार है। एक निजी अनुभव की चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। मैं और प्रेमशीला (पत्नी) ने मरणोत्तर देहदान का संकल्प लिया है। इस काम में मुख्य रूप से कोलकाता में सक्रिय 'गणदर्पण' नाम की सामाजिक संस्था ने हमारी मदद की है। संस्था के लोगों ने बताया कि अपनी देह को, मरणोत्तर ही सही, दान करने का अधिकार किसी को नहीं होता है! हम मरणोत्तर देहदान की इच्छा व्यक्त कर सकते हैं। हमारी इच्छा तो पूरी करने या नहीं करने का अधिकार परिवार के लोगों के पास ही है। पूरी देह तो छोड़िये, हम अपनी इच्छा के

अनुसार अंग-दान भी नहीं कर सकते हैं! ध्यान में यह रखना भी अनिवार्य ही है कि देह का महत्त्व तो प्राण के कारण है, जीवन के कारण है। तो सवाल यह उठता है कि अपने प्राण, अपने जीवन पर व्यक्ति का कितना अधिकार होता है? असल में जीवन एक सामूहिक सामाजिक प्रपत्ति है। इस प्रपत्ति के नियमन का दृश्य-अदृश्य अधिकार भी समाज का ही होता है। राज्य, जो समाज का ही संगठित और औपचारिक ढाँचा है, इस प्रपत्ति पर निगाह रखता है। लेकिन 'स्त्री की देह पर अधिकार' के सवाल को स्त्री के 'यौनाधिकार' से जोड़कर देखा जाता है। 'स्त्री की देह' के सवाल को 'यौन' में लघुमित[6] करने की उत्तेजना स्त्री, समाज और मानव जीवन के लिए किसी भी स्तर पर शुभ नहीं है। अशुभ यह कि 'स्त्री औपनिवेशिक आखेट बनकर उतनी ही आत्म-सम्मान विहीन है, जितनी पितृसत्तात्मक धार्मिक जंजीरों में कसकर। 21वीं सदी में पश्चिमी दुनिया का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद हमारे बिल्कुल आसपास और भीतर पहुँच चुका है। उसकी नजर में स्त्री की सबसे बड़ी संपत्ति उसका रूप और यौवन है। पहले उसे धोबी पाट और किचन समझा जाता था, अब महज मनोरंजन की 'चीज' और बेड-पार्टनर के रूप में देखा जाता है। पितृसत्तात्मकता और पश्चिमी दुनिया के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के बीच सेंडविच होकर स्त्री दुनिया के किसी भी दूसरे देश से ज्यादा भारत में चेहराविहीन है।'[7] पुरुषवादी समाज वय्वस्था में 'स्त्री की देह' पर होनेवाले तमाम तरह के अत्याचार के कारण 'स्त्री की देह पर अधिकार' के सवाल को एक तरह की प्राथमिक वैधता और धार मिल जाती है। लेकिन किसी भी हालत में स्त्री-विमर्श के मूल आशय को 'देह-दोहन' की मंशा से उठाये जानेवाले 'स्त्री की देह पर अधिकार' के सवाल की वैधता और धार के बल पर भटकाया नहीं जा सकता है। कुछ लोग स्त्री-विमर्श को एक प्रकार के 'अस्मिता-विमर्श' से जोड़कर निश्चिंत हो जाते हैं। सच तो यह है कि 'सामाजिक-विमर्श', 'सत्ता-विमर्श', 'लैंगिक दुराग्रहों', 'अस्मिता-विमर्श' इन सबके तत्त्व स्त्री-विमर्श में हैं। दुहराव के जोखिम की कीमत पर भी यह कहना जरूरी है कि सभी मामलों में स्त्री-विमर्श का कोई एक ही रूप या तत्त्व सक्रिय नहीं है। बल्कि कहना चाहिए कि स्त्री-विमर्श के अलग रूपों में इनमें से किसी एक या एकाधिक विमर्शों का तात्त्विक प्राधान्य है। इसलिए स्त्री-विमर्श के किसी एक रूप के आधार पर उसका निष्पत्तिमूलक सामान्यीकरण करना ठीक नहीं है। कहना न होगा कि इस तरह का निष्पत्तिमूलक सामान्यीकरण बहुत ही खतरनाक हो सकता है। इस तरह के निष्पत्तिमूलक सामान्यीकरण के खतरों से बचने के लिए स्त्री-विमर्श के जटिल स्वरूप पर समग्रता से बात करना ही

उपयोगी हो सकता है। निष्कर्ष पर पहुँचने की किसी भी जल्दबाजी से बचते हुए स्त्री-विमर्श की प्रक्रिया के आशय को पाने की कोशिश शायद हमारे काम आये।

नवजागरण से स्त्री-विमर्श के प्रारंभ का गहन संबंध है। कहना चाहिए कि स्त्री-विमर्श नवजागरण के कई महत्त्वपूर्ण सूत्रों में से एक है। नवजागरण का उदय मूलत: धर्म के जड़ और वंचक इस्तेमाल से बने दमघोंटू सामाजिक वातावरण में प्राण-वायु के रूप में हुआ। कहना न होगा कि सत्ता और शोषण के सबसे बड़े औजार के रूप में धर्म का इस्तेमाल होता आया है। आज भी हो रहा है और पहले से अधिक घातक ढंग से हो रहा है। उत्तर-आधुनिकता की प्रवृत्तियों पर ध्यान देने से इसकी कुछ मान्यताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। 'मुख्य शक्ति स्रोत के रूप में विज्ञान, तकनीक और बाजार की स्वीकृति। मुख्य भाव ईश्वर संबंधी रहस्य उसके भय से मुक्ति के लिए ईश्वर के अस्तित्व या तत्संबंधी विश्वास के सामाजिक निषेध पर जोर नहीं, बल्कि जो लोग ईश्वर और धर्म से उद्‌भूत मान्यताओं में आस्था रखते हैं उनकी आस्था को और मजबूत करते हुए अपने मनोरंजन और उनके शोषण की अनुकूलता की रचना करना। यहाँ धर्म और बाजार के नवसंश्रय को समझा जा सकता है। नायकत्व से इनकार लेकिन साथ ही बाजार की सुविधा और जरूरत के अनुसार छलनायकों का सृजन और विसर्जन करते हुए मनुष्य के अंदर निहित वीरपूजा के संस्कार को इस्तेमाल के लायक बनाये रखना। समाजवादी राष्ट्रीय-जनतंत्र के बदले मुख्य प्रवृत्ति के रूप में समाज विमुख व्यक्तिवादी बहुराष्ट्रीय पूँजीवादी-धनतंत्र की ओर आकृष्ट करने के लिए मनुष्य को निर्बाध भोग की असीम संभावनाओं की कल्पित मरीचिकाओं में फाँसे रखना।'[8] जाहिर है, घातकता के बढ़ने का कारण साम्राज्यवादी विस्तार की बाजारवादी आकांक्षा में वैज्ञानिक उपकरणों के सहारे धर्म के मूलार्थ का सुनियोजित अभिनिवेश है। धर्म का मूलार्थ क्या है? धर्म का मूलार्थ है, 'शरणगति' संदेश है, 'सब कुछ को छोड़कर मेरे शरण में आओ'[9]। शरणागति को ही प्रगति समझे इसके लिए धर्म आदमी की आँख ही बदल देता है।[10] इस आँख के बदल जाने का ही नतीजा है कि स्त्री का एक चित्र 'दुर्गावाहिनी' के रूप में गुजरात में प्रकट होता है तो दूसरा एक अन्य रूप स्त्री-विमर्श को 'स्त्रीवाद' के बौद्धिक शिकार बनाने में व्यस्त देखा जा सकता है।

'दुर्गावाहिनी', 'भोग्या', 'दैवी' और 'मानवी' अर्थ-संकल्पनाओं के बिछे हुए बौद्धिक चौपड़ पर स्त्री-विमर्श के कई रूप हैं। स्त्री-विमर्श के खास संदर्भ में सौंदर्य को श्रम से नहीं एक भौंड़े अर्थ में दैहिक सौंदर्य और इस दैहिक सौंदर्य को निखारने का दावा करनेवाले

सौंदर्य प्रसाधनों के इस्तेमाल से जोड़ने का जज्बा अधिक होता है। सौंदर्य प्रसाधन बाजार में मिलते हैं! विभिन्न प्रकार की सौंदर्य प्रतियोगिताएँ आयोजित होती हैं और विजयी सुंदरियाँ इन प्रसाधनों के विपणन के औजार में बदल जाती हैं। यानी मछली के तेल से ही मछली को तल लिया जाता है! सौंदर्य प्रतियोगिताओं के आयोजक क्या कहते हैं? उनका तर्क बहुत दिलचस्प होता है। तर्क यह कि सौंदर्य प्रतियोगिताओं के निर्णयों में सिर्फ शारीरिक सौंदर्य ही नहीं मानसिक और बौद्धिक क्षमता का भी ख्याल रखा जाता है। हो सकता है मानसिक और बौद्धिक क्षमता का ख्याल रखा भी जाता हो। लेकिन कोई तो पूछे कि नतीजा क्या निकलता है? क्यों छोटे-छोटे कस्बों में भी ब्यूटी पार्लरों की तो भरमार होती जा रही है लेकिन मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए इन 'पार्लरों' में कोई जगह नहीं होती है और न ही मानसिक और बौद्धिक विकास के लिए अलग से ही कोई 'पार्लर' खुलता है! खुलना तो दूर की बात है, इसके लिए न प्रेरणा होती है और न प्रतिज्ञा। कन्या-भ्रूण हत्या और बेटियों को बेचे जाने की प्रवृत्ति में भारी बढ़ोत्तरी चिंता का विषय है। स्त्री-विमर्श में 'परिवार-कल्याण' और 'बाल विकास' के लिए पर्याप्त अवसर का न होना भी चिंता का कारण होना चाहिए। जो लोग स्त्री-विमर्श में मुस्कानों की तलाश के महत्त्व को समझते हैं उन्हें रघुवीर सहाय के इस काव्य संकेत पर गौर करना चाहिए कि 'तब कलाकार सब निकले मुस्कानों की खोज में/ एक औरत के चेहरे पर एक मिल गयी/ वह गोद में बच्चा लिये गाहक माँग रही थी'।[11] स्त्री सिर्फ देह नहीं श्रम भी है। न उसमें श्रम की कमी है और न प्रतिभा की कमी है। यह नहीं कि वह किसी दूसरे की कमाई पर पलती है। शहर हो या गाँव, कहीं भी स्त्री सामान्य रूप से परजीवी नहीं है। 'ग्रामांचल की कोई भी महिला सिर्फ गृहणी नहीं होती है। ग्रामीण महिलाओं की अधिकतर ऊर्जा और उनका समय उन वस्तुओं और सेवाओं को जुटाने के लिए समर्पित होता है जो विकसित अर्थव्यवस्था में रोजगारमूलक हुआ करती हैं।... इसलिए ग्रामांचल की भारतीय महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सबलीकरण के लिए विकास की रूपरेखा, कार्यक्रम और क्रियाकलापों को बनाते समय विकास प्रबंधकों को सिर्फ 'पुरुष' या 'किसी की पत्नी' के रूप में महिलाओं को न लेकर विकास प्रक्रिया में बराबर के साझीदार के रूप में स्वीकार करने का ध्यान रखना चाहिए।'[12] रोजगार के उपलब्ध अवसरों में महिलाओं की हिस्सेदारी संतोषजनक होने के आसपास भी नहीं है। रोजगार के अवसर बनानेवाली विभिन्न प्रकार की योजनाओं [13] को कार्य रूप देते समय इस पर विचार करना भी दुलर्भ दृश्य है।

ध्यान में ध्यान में रखना चाहिए कि उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण की परियोजनाओं में धार्मिक भावनाओं और मनुष्य की आध्यात्मिक जरूरतों के दोहन का भरपूर प्रावधान है। इस दोहन के लिए संशयमुक्त शरणागति का अपना मूल्य है। धर्म इस संशयमुक्त शरणगति और समर्पण को महत्तर मूल्य के रूप में मनुष्य के मन में टिकाये रखने के साथ ही संघर्ष और स्वाधीन चेतना को फालतू बनाने में सबसे अधिक कारगर आधार प्रदान करता है। बाजारवाद को ऐसे मानव मन की जरूरत बहुत ज्यादा है। इसीलिए बाजारवाद की अपनी जरूरतों के कारण नव-उपनिवेशन के आजमाये हुए हथियार के रूप में धर्म नये सिरे से प्रासंगिक हो उठा है। स्वाभाविक है कि आज साम्राज्यवाद आपने बाजारवाद के उपकरणों के साथ ही सांस्कृतिक सरोकारों के आवरण में धर्म को छुपाये रखकर बहुत ही होशियारी से विज्ञान और समाज विकास की नई शक्तियों के साथ आगे बढ़ रहा है। उत्तर-आधुनिकता, जिसके निहितार्थ का सिंहभाग पूर्व-आधुनिकता है, देह के विपणन के प्रयोजन की वैचारिक या दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार करने में लगा है। जाहिर है, ऐसे में नवजागरण की असमाप्त और अधूरी परियोजनाओं के बिखरे एवं उलझे हुए तंतुओं के प्रति सामाजिक बरताव में नये कौशल की जरूरत है। इस नये कौशल में नवजागरण के पुराने मुद्दों के साथ ही आर्थिक सवालों को प्रत्यक्ष और प्रखर रूप से जोड़ लेना भी शामिल है। कहना न होगा कि समाज के आर्थिक सवाल प्रत्येक सामाजिक सवाल में दृश्य या अ-दृश्य रूप में शामिल रहा करते हैं। भक्ति-कालीन सामाजिक चेतना की ही तरह, नवजागरण की समाजिक चेतना में भी समाज के आर्थिक सवाल अ-दृश्य थे। इसीलिए, 'हरि को भजे, सो हरि का होई' की भावना के 'कमानेवाला खायेगा' की चेतना में विकसित होने में बहुत वक्त लग गया। समाज के आर्थिक सवालों को नवजागरण के नये कौशल में पूरी प्रखरता से शामिल, दृश्य और सक्रिय किया जाना बहुत ही आवश्यक है। संदेह किया ही जा सकता है कि कहीं समाज के आर्थिक सवालों के प्रत्यक्ष और प्रखर विनियोग के समुचित समावेश का प्रभावकारी अवसर नहीं रहने के कारण ही तो नवजागरण की परियोजनाएँ अधूरी न रह गईं!

यह याद रखना चाहिए कि भारतीय नवजागरण का प्रारंभ औपनिवेशिक वातावरण में हुआ। फिर हम यह भी देखते हैं कि कैसे स्वतंत्रता के राजनीतिक संघर्ष में नवजागरण की कच्ची सामाजिक शक्ति का बहुत ही तत्परता के साथ विनियोग हो जाता है। भारतीय नवजागरण की अपनी सीमाएँ थीं, लेकिन उसकी कुछ शक्तियाँ भी थीं। नवजागरण के महत्त्वपूर्ण सूत्रों में स्त्री, दलित, पिछड़ों के सामाजिक प्रसंग रहे हैं। हालाँकि, नवजागरण एक आधुनिक परिघटना है और इसका गहरा संबंध स्वतंत्रता, समता

और बंधुत्व की सदिच्छा से रहा है। भारत में इसकी हल्की-सी कौंध भक्तिकाल में भी मिलती है। यह सच है कि भक्तिकाल में स्त्री के सवाल गंभीरता से शामिल नहीं हैं। लेकिन विद्यापति की पदावली में स्त्री स्वर के समावेश, रैदास की शिष्या के रूप में मीरा के उदय जैसी घटनाएँ अपनी नई समाजशास्त्रीय व्याख्याओं की माँग करती हैं। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' तुलसीदास की लोक प्रसिद्ध उक्ति है। कुछ सुविधार्थी लोग 'पराधीन' को मुगल शासन की 'पीड़ाओं' से जोड़ने का सुख हासिल करते नहीं अघाते हैं। उस अर्थ में, इस उक्ति का मुगल शासन से कुछ भी लेना-देना नहीं है। इस उक्ति के पहले की उक्ति पर ध्यान देने से यह बात साफ हो जाती है कि 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' का संबंध स्त्री के कठिन जीवन से है। पूरी उक्ति है, 'कत विधि सिरजा नारि जग माँहि, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं'[14]। यह अलग बात है कि वही तुलसीदास अपने समय की विडंबनाओं को काट नहीं पाने या उसके शिकार हो जाने के कारण 'स्त्री-पराधीनता' के इस बोध को एक सांस्कृतिक उच्चाशय से जोड़ने की दिशा में बहुत आगे नहीं बढ़ पाये। बल्कि इसके विपरीत दिशा में ही आगे बढ़ते चले गये। सती अनुसूइया जिस ढंग से और जिन सुझावों के साथ सीता का प्रबोधन करती हैं, सतियों की कोटियों के बारे में बताती और चेताती हैं, उन्हें 'स्त्री-पराधीनता' को कम करने में सहायक तो नहीं कहा जा सकता है। जब-तब सीता की ही परीक्षा ली जाती है। परिवार टूटते हैं। स्वाभाविक ही है कि स्त्री-विमर्श में परनिर्भरता से जनमी इस परीक्षा का प्रतिरोध है। इस प्रतिरोध में कभी-कभी स्त्री-विमर्श परनिर्भरता से लड़ते-लड़ते अंतर्निर्भरता को भी अपनी चपेट में ले लेता है।[15] इसके बावजूद यह उक्ति 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' का मर्मस्पर्शी निष्कर्ष तो छोड़ ही जाती है। यह निष्कर्ष लोकचित्त में गहरे उतरता चला गया। यह अलग बात है कि पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यबोध के कारण 'नारी' की 'पराधीनता' के विशिष्ट दुख से अलग हटकर 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' सामान्य सामाजिक दुख के सुविधार्थ का वाहक बनकर ही लोकचित्त में गहरे धँस पाई !

सवाल उठता है कि 'नारी' को 'पराधीन' कौन बनाता है? और यह भी कि क्या पराधीन बानानेवाला वह उपकरण क्या सिर्फ 'नारी' को ही 'पराधीन' बनाता है? क्या 'दलितों', 'पिछड़ों', 'आदिवासियों' और मानवीय

आबादी के बड़े अंश को 'पराधीन' बनानेवाला उपकरण ही 'नारी' को भी 'पराधीन' नहीं बनाता है? क्या पराधीन बनानेवाली परियोजनाएँ अंतत: 'एक' ही नहीं है? अगर ये 'एक' हैं, या जितनी दूर तक भी एक है तो उस 'एक' से उतनी दूर तक इन सवालों को अलग-अलग उठाने से किसका मतलब सधता है? जब तक अलग-अलग सवाल उठाये जाते रहेंगे तबतक 'पराधीन' बनाने की परियोजनाएँ, जिसके सामाजिक पाठ भी हैं और जिसके आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पाठ भी हैं, बिना किसी प्रभावकारी बाधा के जारी रहेंगी। स्वाभाविक है कि 'पराधीनता' की परियोजनाओं के सभी रूपों को एक साथ समझने और उससे लड़ने की जरूरत है। क्योंकि ये सभी परियोजनाएँ एक-दूसरे से गहरे जुड़ाव में हैं। इसके लिए स्त्री-विमर्श को 'दलितों', 'पिछड़ों' और 'आदिवासियों' के व्यापक विमर्श के गहरे लगाव को समझते हुए उन्हें मानवीय आबादी के बड़े अंश की वास्तविक स्वाधीनता की आकांक्षा से तंतुबद्ध करना होगा। यह तंतुबद्धता प्रथमत: एक सामाजिक प्रक्रिया है। और स्त्री-विमर्श को भी इस सामाजिक प्रक्रिया से जोड़कर ही सार्थक बनाया जा सकता है। साहस के साथ कहना होगा कि मनुष्य जाति को जातियों में खंडित करने के लिए पारंपरिक भारतीय संस्कृति के सामंतवादी विपथन से निर्मित ब्राह्मणवाद और मनुष्य जाति को वर्ग में विभाजित करने के लिए आधुनिक वैश्विक संस्कृति के विपथन से निर्मित औपनिवेशिक पूँजीवाद की साम्राज्यवादी परियोजनाएँ मनुष्य को पराधीन बनाती हैं ! याद रखना होगा कि 'ब्राह्मणवाद' एक व्यवस्था है। ब्राह्मण एक जाति है। ब्राह्मण जाति से ब्राह्मणवाद का संबंध है। लेकिन ब्राह्मणवाद का संबंध सिर्फ ब्राह्मण जाति से न होकर कमो-बेश सभी जातियों से है। इसलिए ब्राह्मणवाद के विरोध का आत्यंतिक अभिप्राय ब्राह्मण-विरोध नहीं हो सकता है। इस बात को ब्राह्मणवाद-विरोधी चिंतक शुरू से मानते रहे हैं। तात्पर्य यह कि भारतीय संदर्भ में 'स्त्री', 'दलितों', 'पिछड़ों' और 'आदिवासियों' को 'पराधीन' बनाने की प्रक्रिया को जाति और वर्ग दोनों ही स्तर पर एक साथ प्रहार करने और उन्हें तोड़ने की जरूरत है। इसीलिए, डॉ. आंबेडकर ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद को शत्रु मानते थे। एक को जाति-संघर्ष के रास्ते और दूसरे को वर्ग-संघर्ष के रास्ते परास्त करने की रणनीति को महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके विचार से 'इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद ...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और भाईचारा की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह (निषेध वृत्ति) ब्राह्मणों तक ही सीमित न होकर सभी जातियों में घुसा हुआ

है। (टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938)[16]। यहीं पर विशिष्ट भारतीय सामाजिक यथार्थ में मार्क्सवाद का विनियोग होना अनिवार्य है। डॉ. आंबेडकर फ्रांसिसी क्रांति, मार्क्सवाद और बौद्धदर्शन के बीच से इस संघर्ष के लिए जरूरी वैचारिक जमीन हासिल करना जरूरी मानते थे। वे 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दों, बंधुत्व स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज भाईचारा और स्वतंत्रता को कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना भाईचारा और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है।'[17] उनकी मान्यता यह भी थी कि 'ऐतिहासकि रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्तित्व कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है।'[18] क्या इन 'तीन भारतों' के साथ एक 'चौथे भारत' का भी अस्तित्व रहा है! 'स्त्री भारत' का! ध्यान में रखने की बात यह है कि आदिवासी लोगों का वास-स्थान भौगोलिक रूप से शेष आबादी से अलग होता है। दलित लोग शोष आबादी के साथ एक ही भौगोलिक वास-स्थान में, लेकिन अलग गोल में, रहते हैं। और स्त्री की रहनी? स्त्री न तो अलग भौगोलिक वासस्थान में और न अलग गोल में ही रहती है। उसकी रहनी तो पारिवार में है। यह रहनी, कबीर के शब्दों में कहें तो 'जल बीच मीन पियासी' जैसी है।[19] स्त्री पारिवारिक संरचना के नाभिकीय केंद्र में होती है। जाहिर है स्त्री-विमर्श का सिंहभाग परिवार से जुड़ा होना चाहिए। लेकिन मध्य और उच्चवर्गीय उत्साह और अतिरेक के कारण स्त्री-विमर्श के प्रतिरूप 'स्त्रीवाद' में परिवार नाम की संस्था के प्रति सही नजरिया को बचाना मुश्किल होता है। ध्यान में यह भी रखना ही होगा कि स्त्री-विमर्श की आकांक्षा पारिवारिक सीमाओं में ही पूरी नहीं हो सकती है लेकिन पारिवारिक टूटन से भी पूरी नहीं हो सकती है। परिवार की सामाजिक अन्विति को भी समझना जरूरी होगा। कहना न होगा कि किसी भी अन्य-विमर्श की तरह स्त्री-विमर्श के प्रसंग में आर्थिक, शारीरिक और मानसिक आत्मनिर्भरता का मूल तात्पर्य अंतर्निर्भरता है। यह ठीक है कि बिना आत्मनिर्भता के अंतर्निर्भरता का कोई आधार ही विकसित नहीं होता है, लेकिन यह भी माना होगा कि अंतर्निर्भरता की समझ से रहित आत्मनिर्भरता मनुष्य को सामाजिक बनाने के बदले स्वेच्छाचारी ही बनाती है। 'स्त्रीवाद' इस अंतर्निभरता को क्षतिग्रस्त करता है। इसलिए जहाँ 'स्त्रीवाद' का प्रकोप जिस समाज पर ज्यादा पड़ा वहाँ

परिवार बचाने के लिए अतिरिक्त प्रयासों की तीव्र जरूरत भी महसूस की गई। ऐसे समाजों में परिवार बचाने की मुहिम को आंदोलन बनाने की कोशिश हो रही है। इस बात को समझना ही होगा कि उपनिवेशन एक सामान्य पूँजीवादी प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अपनी सफलता में साम्राज्यवाद को संभव करने की आकांक्षा रखती है। नाना स्तरों पर और नाना रूपों में मनुष्य की नैसर्गिक सामाजिक एकता के आधार को तोड़कर कृत्रिम सामाजिक विभाजकता को उभारने के उपाय पूँजीवाद के समन्वित कार्य-विन्यास में अंतर्निहित रहते हैं। इसके लिए पूँजीवाद के समन्वित कार्य-विन्यास में सोची समझी और रणनीतिक जगह बनाई जाती है। उपनिवेशन -- बाहरी और आंतरिक दोनों -- की प्रक्रिया एक ही होती है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के त्रैत के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान करना बहुत कठिन नहीं है कि आनेवाले दिनों में उपनिवेशन के पुराने तौर तरीके, जिसमें राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आयामों के साथ ही भौगोलिक आयाम भी होते थे, अब कारगर नहीं रह गये हैं। उपनिवेशन के इतिहास-मुक्त और परंपरा-विहीन राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आयामों के साथ ही भौगोलिक आयाम भी एक हो रहे हैं। उपनिवेशक चाहे वे भौगोलिक रूप से दुनिया के किसी भी भाग के रहनेवाले हों, पारंपरिक रूप से चाहे किसी भी धर्म में आस्था रखते हों, पारंपरिक रूप से उनकी मातृभाषा चाहे जो हो; बस उनकी आर्थिक हैसियत और आवारा वित्तीय-पूँजी से उनके रिश्ते एक जैसे होने चाहिए। यही तो है आज के नव-उपनिवेशकों का भूमंडलीकरण! उपनिवेशक एक हो रहे हैं -- अर्थात भूमंडलीकृत हो रहे हैं। और उपनिवेशित! यही भूमंडलीकरण उपनिवेशित लोगों के इतिहास, भूगोल, परंपरा, धर्म, भाषा, जाति, लिंग आदि के आधार का घातक उपयोग करते हुए वि-भक्तीकरण, घनघोर स्थानीयकरण और अकेलीकरण के माध्यम से उपनिवेशन के लिए अधिकाधिक अनुकूलित किये जाने की परियोजनाएँ पर अमल कर रहा है। 'स्त्री' इस सभ्यता का प्रथम उपनिवेश है, शायद अंतिम भी। स्त्री के अन-उपनिवेशन के संघर्ष को अन-उपनिवेशन की समग्र संघर्ष प्रक्रिया के सातत्य में विकसित करना स्त्री-विमर्श का महत्त्वपूर्ण दायित्व है। बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता ये अलग-अलग नहीं एक साथ ही हासिल किये जा सकते हैं। क्योंकि ये अलग-अलग न होकर एक ही मानवीय अस्मिता के तीन पहलू हैं।

लेकिन, किसी भी अर्थ में इसका मतलब यह नहीं कि स्वतंत्र रूप से स्त्री-विमर्श का कोई प्रयोजन नहीं है। हम सभी जानते और मानते हैं कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम भारतीय जनता की समग्र स्वतंत्रता का अभियान था। इस समग्र स्वतंत्रता में

सिर्फ बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की आकांक्षा ही नहीं थी, बल्कि आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की आकांक्षा भी थी। इसलिए डॉ. आंबेडकर भारत की स्वतंत्रता में दलितों की समेकित स्थिति और हैसियत के सवाल को लेकर कई बार बहुत ही चिंतित और विचलित हो जाया करते थे। कहना न होगा कि उनका विचलन बहुत ही स्वाभाविक था, उनकी चिंता बहुत ही वैध थी। डॉ. आंबेडकर की चिंता की वैधता को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय इतिहास ने पुष्ट ही किया है। स्वाभाविक रूप से लगता है कि जितनी ताकत के साथ बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई लड़ी गई, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उतनी ही या उससे भी ज्यादा ताकत के साथ आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई को जारी न रख पाना एक गंभीर आत्मघाती चूक साबित हुई है। इस ऐतिहासिक आत्मघाती चूक का खामियाजा हम आज भी भोग रहे हैं। आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई को क्यों आगे नहीं बढ़ाया जा सका, क्यों इसे जारी नहीं रखा जा सका? इसका प्राथमिक जवाब हमें गहरी राष्ट्रीय ग्लानि में डालता है। 'राष्ट्रीय ग्लानि' में! जी हाँ, अगर बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की दृढ़ आकांक्षा 'राष्ट्रीय गौरव' का कारण बन सकती है तो आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की आकांक्षा के लोप को 'राष्ट्रीय ग्लानि' का कारण मानना ही चाहिए। यह बिल्कुल निराधार आशंका नहीं है कि जिनके हित में आंतरिक उपनिवेश का बने रहना ही जरूरी था उन्हीं के हाथों में बाहरी उपनिवेश से मुक्ति के नेतृत्व का होना इस आत्मघात का प्रमुख कारण बना। तात्पर्य यह कि समग्र के साथ विशिष्ट की असावधान समझ का क्रिया के स्तर पर जुड़ाव कहीं-न-कहीं विशिष्ट की भिन्न स्थिति के संदर्भ को धुँधला भी कर देता है। खासकर तब, जब विशिष्ट की हैसियत और स्थिति सत्ता-समूह की संरचना में कमजोर हो। इस धुधँलेपन से बचने का एक बेहतर उपाय समग्र के साथ विशिष्ट के द्वंद्वात्मक संबंध का विकास है। कहना न होगा कि द्वंद्वात्मक संबंध विरोधी या नकारात्मक संबंध नहीं होते हैं। सही द्वंद्वात्मक संबंध का विकास संबंधों में सकारात्मक संतुलन और सहमेल की दिशा में ही होता है। आशय यह कि 'समग्र' को चिंता और क्रिया के केंद्र में रखना जितना जरूरी है 'विशिष्ट' की स्थिति को भी चिंता और क्रिया के केंद्र में रखना उतना ही जरूरी है। जाहिर है कि समाज के मुक्ति-विमर्श की समग्रता में एक भिन्न स्तर पर उसके सातत्य और सहमेल में स्त्री-विमर्श का अपना स्वयं-सिद्ध प्रयोजन भी उतनी ही तीव्रता से बरकरार है।

हमारे समाज में क्या है स्त्री की स्थिति। आँकड़े अपनी जगह, हमारा अनुभव क्या बताता है! पारंपरिक रूप से स्त्री दशा में उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के बाजारवादी उपकरण के व्यापक इस्तेमाल से क्या अंतर आने और दिखने लगा है? ये हमारी चिंता में ये कितनी दूर

तक शुमार हैं? बिना किसी लाग-लपेट के यह कहना जरूरी है कि पूरी दुनिया में नये सिरे से आजादी का संघर्ष, इस 21वीं सदी का मुख्य एजंडा होने जा रहा है। यह नया सिरा क्या है? नया सिरा यह है कि पिछली सदियों में लड़ी गई आजादी की लड़ाई अपने मूल चरित में बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई थी। आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई की अनुषंगी बनकर रह गई थी। 21वीं सदी में आजादी की जो लड़ाई होगी अपने मूल चरित में आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई होगी और बाहरी उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई आंतरिक उपनिवेश से मुक्ति की लड़ाई की कमजोर अनुषंगी होगी। नई परिस्थितियों में पूँजी का राष्ट्रीय चरित्र अप्रासंगिक होता जा रहा है। स्वभावत: बाहरी उपनिवेश की अवधारणा और उसके चरित्र में भी इससे बदलाव आयेगा। राष्ट्रवाद के प्रभावी हो जाने से बाहरी उपनिवेश से मुक्ति संघर्ष के दौरान आसानी से यह बात सोची भी नहीं जा सकती थी कि लोग अपनी राष्ट्रीय शक्ति के भी गुलाम हो सकते हैं। लेकिन ऐसा हुआ। यह लगभग उसी तरह का है जिस तरह का अनुभव अपने धर्म से मिलनेवाले दुत्कार से होता है। प्रेमचंद सावधान करते हैं। लेकिन उस समय मूल भावना यही थी कि 'ये अपने हैं, अपने देश के हैं; कितने ही स्वार्थी क्यों न हों विदेशियों से तो अच्छे ही होंगे।'[20] कल तक अपनी जाति के राजनीतिक नेताओं के बारे में भी आम लोगों की धारणा यही थी कि अपनी जाति का है तो अच्छा ही होगा। यह आम धारणा अब टूट रही है। आम धारणा यह भी थी कि महिला के शक्तिशाली होने या सत्ता में आने पर महिलाओं की स्थिति बेहतर होगी। भारतीय राजनीतिक अनुभव इस बात की पुष्टि नहीं करता है। ऐसी और इस तरह की कई आम धारणाएँ बहुत तेजी से टूट रही हैं। आम आदमी इसी तरह की आम धारणा पर विश्वास करते हुए जीने का अभ्यासी होता है। आम धारणा टूटती है तो यह आम आदमी के विश्वास के टूटने का लक्षण है। मुश्किल यह है कि आम धारणा पर विश्वास करते हुए जीने का अभ्यासी होना उसे छल का शिकार बनाता है। इसलिए इस टूटन में शुभ भी है और अ-शुभ भी। प्रेमचंद ने कहा था जाति, नस्ल, धर्म, संप्रदाय जैसी विभेदकारी प्रवृत्तियों की जड़ में मट्ठा डालना राष्ट्रवाद की पहली शर्त है। इस शर्त को पूरा नहीं किया जा सका है। जाहिर है, राष्ट्रवाद विकलांग है। अंधत्व उसका एक लक्षण बनकर उभरता है। ऐसा राष्ट्रवाद मनुष्य के सवाभाविक देशप्रेम की निशच्छल भावना को ठग लेता है और अपने लोगों का शिकार कर लेता है। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के बाजारवादी उपकरण के रूप में आक्रामक बहुराष्ट्रवाद से इस आत्मघाती अंधराष्ट्रवाद के सहारे लड़ा नहीं जा सकेगा। जाहिर है कि विकलांग राष्ट्रवाद बहुराष्ट्रवाद के सामने टिक नहीं पायेगा। ऐसे में आजादी के संघर्ष का नया सिरा अपने तार्किक प्रसार में सामुदायिकताबोध से भी जुड़ेगा। इस पूरे प्रकरण में सबकुछ शुभ ही नहीं है। अशुभ भी है।

अशुभ को कैसे न्यूनतम स्तर पर नियंत्रित रखा जा सकेगा, यह तो आनेवाले दिनों में ही पता चल सकेगा। मनुष्य की एकता का का महापाठ[21] जिसे राष्ट्रवाद के संयोजन में खर्च कर दिया गया है, के व्यामोह में सभ्यता के लघुपाठ[22] की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी। ठीक इसी ऐतिहासिक बिंदु पर खड़े होकर स्त्री-विमर्श की जरूरत और संवेदना की बौद्धिक चुनौती को समझने का साहस अर्जित किया जाना है।

स्त्री-विमर्श के ठोस सामाजिक यथार्थ हैं। पूरी दुनिया में इस यथार्थ में कई प्रकार की भिन्नताएँ है तो कई प्रकार की समानताएँ भी हैं। इन भिन्नताओं और समानताओं को देखते हुए लगता है कि पूरी दुनिया में स्त्रियों की सामाजिक दुर्दशा में चारित्रिक समानताएँ हैं। यह समानता देह पर अत्याचार से जुड़ी हैं। लेकिन यह देह तक सीमित नहीं है। शिक्षा और उत्पादकता से प्रभावी ढंग से जुड़े होने के बाद भी उनके शोषण की महागाथा का कोई अंत नहीं है। समाज में उनकी हैसियत दोयम दर्जे पर है। समाज की नाभिकीयता परिवार है। और परिवार की धुरी स्त्री होती है। पुरुषों से पुरुषों की रंजिश के चरम प्रतिशोध का आसान शिकार भी स्त्री ही होती है। मेरे एक परिचित दंपत्ति हैं। पति-पत्नी की शिक्षा, आमदनी और रोजगारमूलक हैसियत लगभग एक-सी है। एक बार उत्सुकता वश अपनी उस परिचिता से उसकी पारिवारिक हैसियत के बारे में जानना चाहा तो बड़ी मशक्कत और उनसे मिलनेवाली जानकारी के बिल्कुल एकेडेमिक उपयोग के प्रति विश्वास दिलाये जाने के बाद यही ज्ञात हुआ कि उन पर अत्याचार जैसी तो कोई बात नहीं है, लेकिन यह सच है कि अधिकतर मामलों में पुरुष की ही चलती है। उन्हें तो बस मान ही जाना पड़ता है!

यह सच है कि तमामतर विकास के बावजूद स्त्री को जमीन पर खड़ी होकर आसमान देखने का सामाजिक अवसर नहीं बन पाया है, इसलिए उनके खीझने एवं तंग होने के इस मर्म को समझना होगा। समझना होगा कि वे क्यों कहती हैं कि 'तंग आ चुकी हूँ खिड़की से आसमान देखते-देखते।'[23] स्वाभाविक है कि स्त्री अपनी समग्र मुक्ति की माँग करती है। अपनी माँग के अतिरेक में वे विमर्श से बाहर भी हो जाना चाहती हैं। जेनुइन माँग के संतुष्ट नहीं होने से अलगाव बढ़ता है। एक जेनुइन माँग विपथित होकर एक खतरनाक सिलसिले में बदल जाती है। 'मिल जानी चाहिए अब मुक्ति स्त्रियों को/ आखिर कब तक विमर्श में रहेगी मुक्ति/ बननी चाहिए एक सड़क चलें जिस पर सिर्फ स्त्रियाँ ही/ मेले और हाट-बाजार भी अलग/ कताबें अलग, अलग हों गाथाएँ/ इतिहास'।[24]

एक विषम समाज में पारंपरिक-सत्ता-समूह का स्वार्थ सधता रहे इसलिए यह सत्ता-समूह नाना प्रकार के अलगाव और विभेदकारी प्रवृत्तियों के गिरफ्त में आदमी को लेकर उसकी

असली चेतना का शिकार कर लेती है। समतामूलक समाज में ही सामाजिक-न्याय संभव है। सामाजिक-न्याय के सुनिश्चित होने की अवस्था का ही एक और नाम है मुक्ति, पराधीनता से मुक्ति! समाज के व्यापक मुक्ति-प्रसंगों में ही 'स्त्री' का भी एक अंतरंग मुक्ति-प्रसंग है। इस अंतरंग मुक्ति-प्रसंग का बारंबार अन्वेषण और उस अन्वेषण में नवोन्मेष की संभावनाओं का संधान स्त्री-विमर्श को और अधिक कारगर एवं व्यापक मुक्ति-प्रसंगों की चालिका शक्ति बना सकता है। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं' के भाव को 'स्त्री की पराधीनता' के मूल प्रसंग से विच्छिन्न किये बिना संपूर्ण समाज के प्रसंग से जोड़कर देखना जरूरी है। स्त्री-विमर्श को परिवार और घर के संदर्भ से देखना जरूरी है। क्या यह असंभव है! शायद नहीं! क्योंकि, एक-न-एक दिन दुलारी बाई का घर अपना जरूर होगा! एक-न-एक दिन जरूर घर लौटेगी दुलारी बाई! 'एक दुनिया मर चुकी है। मगर एक दुनिया ज़िन्दा है अभी। आँसुओं को पोंछ डालो दुलारी बाई! देखो दिन डुब रहा है! दीया बत्ती का बखत हो रहा है। खिस्सू के बेटे की उँगली पकड़ कर लौट चलो दुलारी बाई! इन चमगादड़ों, कुत्तों, सूअरों और साँड़ों के मरघट में मुर्दे की तरह क्या पड़ी हो? अभी तो तुम्हें अपने जिंदा होने का सबूत भी पेश करना है न !'[25] जरूर घर लौटेगी दुलारी बाई !

==============

संदर्भः

1यशपाल : दिव्या

2UA Shimray : Economic and Political Weekly : VolXXXIX No017: April 2004. 'Many women in more civilised parts of India may well envy the women of the Naga hills their high status and their free and happy life; and if you measure the cultural level of a people by the social position and personal freedom of its women, you will think twice before looking down on the Nagas as 'savages'. [Haimendorf, 1939:101]

3नागार्जुन रचनावली - 6 : आईने के सामने : सारिका मार्च, 1963

4मदन कश्यप : नीम रोशनी में

5 Gender Bias के अर्थ में।

6 Reduced करने के अर्थ में।

7शंभुनाथ : हिंदी नवजागरण और संस्कृति : स्त्री विमर्श की मुश्किलें

8प्रफुल्ल कोलख्यान : साहित्य, समाज ओर जनतंत्र

9गीता : अध्याय-18(66): 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:'।।

10गीता :अध्याय-11(8): 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। दिव्यं ददामि ते चक्षु:पश्य मे योगमैश्वरम'।।

11रघुवीर सहाय : एक समय था : स्त्री का भय

12Kurukshetra - Vol.52 No.9 -July 2004: Editorial: In rural areas there is no woman who is just a housewife. Most of the time and energy of rural women in spent in providing types of goods and services which are usually bought for money in the advanced economies.....for social, economic and political empowerment of rural women in India the development managers must design their development programmes and activities by considering not only men as farmers and women as farmers' wives but as equal partners in development process.

13Employment Generation Schemes (ECGs)

14तुलसीदास : रामचरितमानस

15तुलसीदास : रामचरितमानस

16Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage 2002)

17Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage 2002)

18Dr. Babasaheb Ambedkar: Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)

19कबीरदास : 'जल बीच मीन पियासी, मोहे सुनि, सुनि लागे हाँसी'।

20प्रेमचंद : विविध प्रसंग: अन्धा पूँजीवाद : 06 नवंबर 1933

21Text of Greater Tradition

22Text of little tradition

23नीलेश रघुवंशी : पानी का स्वाद

24नीलेश रघुवंशी : पानी का स्वाद

25संजीव : दुनिया की सबसे हसीन औरत : घर चलो दुलारी बाई